समाज निरपेक्ष नहीं है भाषा

अपूर्वानंद से भाषा के मसलों पर फ़ैयाज़ की बातचीत

फ़ैयाज़ : प्राथमिक स्तर की पाठ्यपुस्तकों के सन्दर्भ में अगर बात करें तो आपके लिए भाषा के मानकीकरण का क्या अर्थ है?

अपूर्वानंद : पाठ्यपुस्तक के बारे में हमेशा इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वह एक विशेष सन्दर्भ में शिक्षक और छात्रा के पास उपलब्ध एक उपकरण है। यानी वह एकमात्र सामग्री नहीं है जिससे शिक्षा का कारोबार चले। इससे अगर आप एक तिकड़ी बनाना चाहें तो वह तिकड़ी बनती है शिक्षक, पाठ्यपुस्तक और छात्रा की। आप उसके साथ परिवेश रख सकते हैं, जिसमें ये तीनों शामिल हैं– पाठ्यपुस्तक, छात्रा और शिक्षक। इसलिए, जिस तरह शिक्षक अपने परिवेश से निरपेक्ष नहीं है और छात्रा अपने परिवेश से निरपेक्ष नहीं है, पाठ्यपुस्तक भी उस परिवेश से निरपेक्ष नहीं है। अब परिवेश के कई स्तर हो सकते हैं। अगर हम वृत्तों में कल्पना करें तो परिवेश का जो बिल्कुल समीपी वृत्त होगा, उसमें बच्चे जहाँ हैं, जिस जगह पर हैं, उनका जो सामुदायिक परिवेश है, वह होगा। लेकिन, वह सामुदायिक परिवेश भी एक वृहत्तर वृत्त से घिरा हुआ है। आप कह सकते हैं, उसका जो सन्दर्भ होगा वो राज्य का, राष्ट्र का या अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ होगा। ये तीनों सन्दर्भ एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इनमें एक का दूसरे से हल्का रिश्ता, और एक तरह का तनाव का रिश्ता होता है क्योंकि आप स्थानीयता और सार्वभौमिकता के बीच सन्तुलन कैसे कायम करेंगे इसको लेकर हमेशा एक द्वंद्व चलता रहता है। इसीलिए तनाव तो है। क्योंकि सन्तुलन का कोई एक बिन्दु आप नहीं कह सकते हैं कि हासिल कर लिया गया हो। वह हमेशा बदलता रह सकता है।

> पाठ्यपुस्तक के बारे में हमेशा इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वह एक विशेष सन्दर्भ में शिक्षक और छात्रा के पास उपलब्ध एक उपकरण है। यानी वह एकमात्र सामग्री नहीं है जिससे शिक्षा का कारोबार चले। इससे अगर आप एक तिकड़ी बनाना चाहें तो वह तिकड़ी बनती है शिक्षक, पाठ्यपुस्तक और छात्रा की।

पाठ्यपुस्तक बनाने की प्रक्रिया, अपने आप में बहुत पेचीदा प्रक्रिया है। यह एक शैक्षिक या शिक्षाशास्त्रीय प्रश्न है। इसीलिए विशुद्ध शिक्षाशास्त्रीय प्रश्न खोजना भी मुश्किल होता है। ऐसे आधार जिन पर आप पाठ्यपुस्तक बनाते हैं, खोजने भी मुश्किल होते हैं। जिन आधारों को आप जानते हैं कि उसमें राजनीतिक निर्णय शामिल होते हैं, उनमें सांस्कृतिक संवेदनाएँ शामिल होती हैं, उनमें हमारी धारणाएँ भी शामिल होती हैं। भाषा की जब हम बात करते हैं तो अभी हमने जो चर्चा की है वह उनके लिए प्रासंगिक हो जाती है, क्योंकि, भाषा का बहुत गहरा रिश्ता उनके परिवेश से है यह तथ्य अब भाषा वैज्ञानिक शोध से भी सिद्ध हो चुका है।

भारत की स्कूली पाठ्यचर्या की रूपरेखा में भी इसे दर्ज किया गया है। हालाँकि अब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यह बात स्थापित हो चुकी है कि पाँच वर्ष की बच्ची जब कक्षा में प्रवेश करती है तो अपने साथ तैयार भाषा लेकर आती है। इसका अर्थ यह है कि हमारी जो पहले की समझ थी कि हम बच्चे को भाषा देते हैं उसमें बदलाव की ज़रूरत है, क्योंकि कक्षा

बच्चे को भाषा नहीं देती है या शिक्षक बच्चे को भाषा नहीं देता है या देती है बल्कि बच्चे के पास भाषा का अपना एक संसार है। उसके पास भाषा की एक दुनिया है और वह खासी जटिल दुनिया है जो उसके पास है। आप कह सकते हैं कि वह अचेतन रूप में उन नियमों से भी परिचित है जिनसे भाषा का व्यापार संचालित होता है, और शायद ही वह उन नियमों में कभी घालमेल करता हो। यहाँ तक कि भाषा की जो अलग-अलग युक्तियाँ होती हैं उन युक्तियों में भी फर्क करना एक बच्चे को आता है। मसलन अपनी माँ से उसे कैसे बात करनी है और अपने छोटे भाई से कैसे बात करनी है, अपने शिक्षक से कैसे बात करनी है या अपनी कक्षा में अन्य लोगों से कैसे बात करनी है, यह उसको पता है। इसलिए जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि बच्चों के पास भाषा की अपनी एक दुनिया होती है और अगर हम उसे कबूल करते हैं तो फिर भाषा की पूरी शिक्षा को लेकर हमारा नज़रिया बदल जाता है। दूसरी बात भाषा शिक्षण को लेकर लम्बे शोध और अध्ययन के बाद, खासकर भाषा वैज्ञानिकों और अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने भी माना है कि बच्चे की भाषा की इस दुनिया को या भाषा के उस लोक को इज्ज़त देना किसी भी भाषा के शिक्षक के लिए आवश्यक है। यह भी कि न सिर्फ़ भाषा के शिक्षक के लिए बल्कि किसी भी विषय के शिक्षक के लिए आवश्यक है। इसके साथ जो तीसरी बात जुड़ी हुई है वह यह है कि भाषा की शिक्षा सिर्फ़ भाषा की कक्षा में नहीं होती है। शायद यह एकमात्र ऐसा विषय है जो अपनी कक्षा में नहीं पढ़ाया जाता है। जब आप विज्ञान पढ़ाते हैं तब भी आप भाषा पढ़ाते हैं।

फ़ैयाज़ : जब गणित पढ़ाते हैं उसमें भी भाषा है। बिना भाषा के तो आप गणित भी नहीं पढ़ा सकते हैं!

अपूर्वानंद : इसका मतलब भाषा पूरे पाठ्यचर्या में फैली हुई है और पूरे पाठ्यक्रम में उसका फैलाव है। वह सिर्फ़ भाषा की कक्षा में सीमित नहीं है। इसीलिए भाषा की कक्षा और भाषा की किताबें ये जो मानती हैं कि उनकी ज़िम्मेदारी सिर्फ़ भाषा की पूरी तालीम ही बच्चे को देनी है, बाकी विषयों में क्या हो रहा है, इससे वे अपनी कक्षा को अंजान बनाने की कोशिश करती हैं, उससे जो शिक्षा का संसार बनता है वह बहुत विचित्र-सा बनता है। अगर किताबों को देखा जाए, उनका विश्लेषण किया जाए कि विज्ञान की कक्षा में क्या हो रहा है तो आप बच्चे को किसी जटिल अवधारणा से जूझते हुए या सुलझाते हुए पाएँगे। लेकिन भाषा की कक्षा में उसे इस लायक नहीं माना जाता है कि वह एक जटिल भाषाई संवेदना से गुज़र सके। हमारी भाषा की कक्षाएँ या पाठ्यपुस्तकें अक्सर एक ही दायित्व अपने ऊपर लेकर चलती हैं, वह है शैक्षिक दायित्व। जिस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। लेकिन इस बारे में नहीं विचार किया जाता कि इन सब बातों का मतलब क्या है? जब आप भाषा की प्राथमिक कक्षाओं की बात करते हैं तो भाषा शिक्षा से हमारा तात्पर्य क्या है? अगर हम इस बात को मान लेते हैं कि बच्चे की भाषा की अपनी एक दुनिया है और अगर हम इस बात को भी मान लेते हैं कि स्कूल को बच्चे की भाषा की उस दुनिया की इज़्ज़त करनी है, इसका मतलब यह हुआ कि कक्षा में उन शब्दों का भी प्रवेश है, उनको इज़ाज़त है, जिनका इस्तेमाल बच्ची अपने घर में बातचीत के दौरान करती है। अगर वह 'चूहा' नहीं कह कर 'मूसा' कह रही है तो आप कक्षा में उसे जगह देंगे। आप उसे ऐसा नहीं कहेंगे कि 'मूसा' ग़लत है और लाल

अगर हम इस बात को मान लेते हैं कि बच्चे की भाषा की अपनी एक दुनिया है और अगर हम इस बात को भी मान लेते हैं कि स्कूल को बच्चे की भाषा की उस दुनिया की इज्ज़त करनी है, इसका मतलब यह हुआ कि कक्षा में उन शब्दों का भी प्रवेश है, उनको इज़ाज़त है, जिनका इस्तेमाल बच्ची अपने घर में बातचीत के दौरान करती है।

रंग से उस पर ग़लत का निशान लगाएँगे। आप ऐसा नहीं करेंगे इस बात को हमने मान लिया।

इसके अलावा यदि आप राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी यह सोचते हैं और आप यह मानते हैं कि शिक्षा एक राष्ट्रीय दायित्व है जिसको पूरा किया जाना चाहिए। तब इसका सीधा-सीधा मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में करोड़ों-करोड़ बच्चे-बच्चियाँ ऐसे हैं जो अपने समुदायों से पहली बार कक्षाओं में जाएँगे। ऐसे में शिक्षा के वे कौन– से तरीके होंगे जिनसे उनको, जब वे पहली कक्षा में दाखिल हो रहे हैं, वहाँ से लेकर पूरी स्कूली शिक्षा तक कामयाबी के एक एहसास के साथ इत्मीनान का माहौल दिया जाए।

> यदि आप राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी यह सोचते हैं और आप यह मानते हैं कि शिक्षा एक राष्ट्रीय दायित्व है जिसको पूरा किया जाना चाहिए। तब इसका सीधा–सीधा मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में करोड़ों–करोड़ बच्चे–बच्चियाँ ऐसे हैं जो अपने समुदायों से पहली बार कक्षाओं में जाएँगे। ऐसे में शिक्षा के वे कौन से तरीके होंगे जिनसे उनको, जब वे पहली कक्षा में दाखिल हो रहे हैं, वहाँ से लेकर पूरी स्कूली शिक्षा तक कामयाबी के एक एहसास के साथ इत्मीनान का माहौल दिया जाए।

क्योंकि आप यह ख़्याल रखिए कि वे अपने समुदाय की पहली पीढ़ी के स्कूल जाने वाले बच्चे-बच्चियाँ हैं। इसका अर्थ यह है कि आपके जो उपकरण हैं, आपकी जो भाषा है, जो समझ है वो सब बदल जाएगी। क्योंकि आप फिर यह नहीं कह सकते कि आपकी अपनी एक शिक्षा की समझ है और भाषा की समझ है, जिससे आपकी उम्मीदें हैं । और आप अपनी उन सारी उम्मीदों को, उन अपेक्षाओं को, समझ को, पहली पीढ़ी के इन बच्चों-बच्चियों पर लागू करने की कोशिश कर रहे हैं। जिसका नतीजा यह हो सकता है कि दूसरी कक्षा या तीसरी कक्षा तक जाते-जाते इनमें से ज़्यादातर बच्चे-बच्चियाँ स्कूलों से बाहर हो जाएँगे। क्योंकि वो, आपकी भाषा की समझ और उस समझ से उपजी उम्मीदों, अपेक्षाओं से तालमेल बिठाने में खुद को अक्षम महसूस करेंगे। हमें यहाँ भी अपनी भूमिका तय करनी है कि हम करना क्या चाहते हैं, क्या हम इन्हें कामयाबी का अहसास दिलाना चाहते हैं? कामयाबी का अहसास दिलाने का मतलब यह है कि इनको यह विश्वास दिलाना कि ये जो बोल रहे हैं उसका मूल्य है कक्षा में, उसकी क़ीमत है, उसे कबूल किया जा रहा है।

एक अन्य पहलू यह भी है कि इनकी जो दुनिया है और कक्षा की जो दुनिया है उसमें एक जुड़ाव है। यानी वे जिस स्कूल में घुसते हैं, उसकी दीवार इतनी मोटी और इतनी ऊँची नहीं है कि वहाँ घुसते ही अपना घर, अपना रास्ता ये देख ही न पाएँ। वहाँ से वे अपना घर और घर जाने का रास्ता और घर से आने का रास्ता भी देख सकें। आपको ऐसा स्कूल बनाना है जो सिर्फ ईंट पत्थर से नहीं बना हो। स्कूल बनाने का मतलब है स्कूल में चलने वाली गतिविधियाँ। आप उनको कैसे नियोजित करते हैं? उन गतिविधियों की भाषा क्या है? अगर भाषा ऐसी है, जो उस बच्चे से पूरी तरह से अजनबी है, तब यह तय मानिए कि वह स्कूल में घुसेगी और तीसरे साल बाहर हो जाएगी या फिर वह उसके साथ कोई रिश्ता नहीं बनाएगी। इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि हम दो चीज़ों पर ज़ोर नहीं देंगे, एक शुद्धता और दूसरा मानकीकरण। यानी जिन शिक्षकों का सबसे ज़्यादा ज़ोर इस बात पर रहता है कि वे शुद्ध भाषा सिखाकर रहेंगे तो यह शुद्ध भाषा सिखाना आपका मक़सद नहीं है क्योंकि भाषा सिखाने वाले तो आप हैं ही नहीं।

फ़ैयाज़ : मगर कुछ लोग यह कहते हैं कि जब हिन्दी पढ़ा रहे हैं तो हिन्दी होनी चाहिए शुद्ध हिन्दी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में एक जगह लिखा है– ''यह आवश्यक है कि शुरुआती वर्षों की शिक्षा में वही भाषा प्रयोग में लाई जाए, जिससे बच्चा अपने परिवेश से

परिचित हो।'' इसका मतलब है कि उनके आम जीवन में, जो घर में बोली जा रही हो, उसके आसपास में, दोस्तों के जरिए बोली जा रही हो, वही भाषा वे बोलेंगे। अगर वहाँ वे शुद्ध बोलेंगे या शुद्ध को परिभाषित करने की बात करेंगे या मानकीकरण की बात होने लगेगी तो ऐसे में बच्चे की शिक्षा का क्या हाल होगा, बच्चे कहाँ तक समझ पाएँगे।

अपूर्वानंद : मानकीकरण की बात को लेकर बहुत बहस चल रही है। आप कहाँ-कहाँ मानकीकरण करते हैं? जब आप साहित्य की बात करते हैं तो मानकीकरण की बात बेमानी हो जाती है, क्योंकि कोई मानकीकृत भाषा नहीं है जिसमें साहित्य रचा जाए। कृष्णा सोबती की हिन्दी, कृष्णा सोबती की हिन्दी है, श्रीलाल शुक्ल की हिन्दी, श्रीलाल शुक्ल की है। राही मासूम रज़ा की हिन्दी, राही मासूम रजा की हिन्दी है। फणीश्वर नाथ रेणु की हिन्दी, फणीश्वरनाथ रेणु की हिन्दी है।

अगर हम यह कहते हैं कि प्रेमचंद की हिन्दी मानकीकृत हिन्दी है, तब सारा साहित्य ख़ारिज हो जाता है। फणीश्वर नाथ रेणु की कोई जगह नहीं होगी। नागार्जुन की कोई जगह नहीं होगी। अमृतलाल नागर की कोई जगह नहीं होगी। श्रीलाल शुक्ल की कोई जगह नहीं होगी। कृष्णा सोबती की तो बात ही आप छोड़ दें। क्योंकि कृष्णा सोबती की हिन्दी पंजाबी के रंग में रंगी हुई है।

अब अगर आप भाषा विज्ञान के लिहाज़ से देखें तो जो मानी गई बात है वह यह है कि आप जिसे मातृभाषा कहते हैं या हम उसे मातृभाषा न कहें, यह कहें कि वह घर की भाषा है या पास-पड़ोस की भाषा है तो उसका हस्तक्षेप, अगर कोई भी भाषा आप सीख रहे हैं, तो उसमें अनिवार्यतः होता है। पहले तो इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए। उसे शुद्धता और अशुद्धता के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिए। मैंने कहा कि अगर आप साहित्य की बात कर रहे हैं तो मानकीकरण की बात बेमानी है और बेतुकी है। दो लेखकों की भाषा एक जैसी नहीं होती है। कोई यह माँग नहीं करता श्रीलाल शुक्ल से या मनोहर श्याम जोशी से कहें कि आप प्रेमचंद की हिन्दी में लिखिए। उन्हें बेवकूफ माना जाएगा। यह माना जाएगा कि उनको पता नहीं कि साहित्य क्या चीज़ है। उसी तरह क्या आप गणित एक ही प्रकार की हिन्दी में पढ़ाएँगे? मसलन अगर आपका मकसद यह है कि आप झारखण्ड के उस इलाके में जहाँ बच्चों ने कभी शिक्षा नहीं प्राप्त की, वहाँ आप शिक्षा का काम करें, तब क्या आप इस बात की ज़िद करेंगे कि गणित उनको संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में पढ़ाएँगे? या आप गणित पढ़ाने के लिए एक ऐसी भाषा ईजाद करेंगे जो उनके स्थानीय शब्दों और न सिर्फ़ शब्दों बल्कि उनके स्थानीय रूपकों और स्थानीय कल्पनाओं से जुड़ी हुई भाषा हो।

अब अगर आप भाषा विज्ञान के लिहाज से देखें तो जो मानी गई बात है वह यह है कि आप जिसे मातृभाषा कहते हैं या हम उसे मातृभाषा ना कहें, यह कहें कि वह घर की भाषा है या पास-पड़ोस की भाषा है तो उसका हस्तक्षेप, अगर कोई भी भाषा आप सीख रहे हैं, तो उसमें अनिवार्यतः होता है। पहले तो इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए। उसे शुद्धता और अशुद्धता के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिए।

जब एनसीएफ - 2005 प्रकाशित हुआ, उसके बाद शिक्षा पर काम करने वाले कुछ लोगों ने इसकी खूब आलोचना की। फिर विनती पाण्डा ने एक लेख लिखा। जिसमें उन्होंने कहा कि ''गणित की शिक्षा भी समरूपी नहीं हो सकती।'' अगर आप पूरे भारत में गणित की भी एकरूपी शिक्षा लागू करेंगे तो यह तय मानिए कि उस गणित में आदिवासी बच्चे फेल हो जाएँगे। इसलिए अगर गणित की मानकीकृत शिक्षा पर भी सवाल है तो भाषा एक अत्यन्त ही स्थानीय क्रिया है। पिछले दो साल से यह बहस देखी जा रही है जिसमें शिक्षामंत्री यह कहते हैं कि पूरे भारत में विज्ञान

और गणित का समरूप पाठ्यक्रम लगाया जाना चाहिए। इसे लेकर शिक्षाशास्त्री भिन्न मत रखते हैं। तो फिर भाषा, जैसा कि मैंने कहा वो तो अत्यन्त स्थानीय सन्दर्भों में गुंथी हुई होती है, उसके किसी एक मानकीकृत रूप की कल्पना भी आप कैसे कर सकते हैं। हाँ, जब आप आगे बढ़ जाते हैं, जब वैज्ञानिक शब्दों की बात कहने लगते हैं, दूसरे तकनीकी शब्दों की बात करने लगते हैं, उनमें ज़रूर कुछ मानकीकृत शब्द खोजने का प्रयास किया जाए। यह कोशिश की जा रही है और यह हिन्दी में भी हुआ है। यह कितना सफल या असफल हुआ है, यह अलग बात है। मसलन अगर लैटिन शब्दों को अंग्रेज़ी में मान लिया गया कि वे हैं या अन्य जगहों पर भी मान लिया गया है।

फ़ैयाज़ : जैसे 'लाठी चार्ज' अब अंग्रेज़ी के शब्द-कोश में शामिल हो गया है।

अपूर्वानंद : हाँ, तो 'लाठी चार्ज' आ गया है। 'पण्डित' बहुत पहले से है। 'जंगल' बहुत पहले से है। 'बाज़ार' बहुत पहले से है, क्योंकि हमारा सवाल यह था कि मानकीकृत भाषा कब से आए? यहाँ इस बिन्दु पर, कम से कम मेरा यह मानना है कि प्राथमिक शिक्षा में आप मानकीकृत भाषा की चर्चा ही नहीं कीजिए। भाषा की कक्षा का जो काम है, वह यह है कि आप भाषा के अलग-अलग रूपों से, उसके अलग-अलग शब्दों से और उसकी अलग-अलग छटाओं से छात्रों को परिचित कराएँ, यह आपका काम है।

> अगर आप साहित्य की बात कर रहे हैं तो मानकीकरण की बात बेमानी है और बेतुकी है। दो लेखकों की भाषा एक जैसी नहीं होती है। कोई यह माँग नहीं करता। श्रीलाल शुक्ल से या मनोहर श्याम जोशी से कहें कि आप प्रेमचंद की हिन्दी में लिखिए। उन्हें बेवकूफ माना जाएगा। यह माना जाएगा कि उसको पता नहीं कि साहित्य क्या चीज़ है। उसी तरह क्या आप गणित एक ही प्रकार की हिन्दी में पढ़ाएँगे ?

मेरे एक मित्र हैं प्रोफेसर रमाकांत अग्निहोत्री, वह भाषाशास्त्री हैं। वह एक बहुत अच्छा रूपक प्रस्तुत करते हैं। वह कहते हैं कि भाषा की शिक्षा एक तरह से, अगर आप उसको पर्वतारोहण के रूपक में समझने की कोशिश करें तो जब आप ज़मीन के आसपास होते हैं तो ऑक्सीजन काफ़ी होती है। यानी जब आप प्राथमिक स्तर पर हैं तो आपकी जो भाषा की कक्षा होगी वह स्थानीय सन्दर्भों से भरी होगी। लेकिन जैसे-जैसे आप ऊपर चढ़ते जाते हैं, वे स्थानीय सन्दर्भ कम होते जाते हैं। क्यों? क्योंकि आपका क्षितिज विस्तृत होता चला जाता है। ऐसा नहीं है कि आप स्थानीय सन्दर्भ से हट गए, लेकिन आप एक तरह से ऊपर चढ़ रहे हैं तो आपका क्षितिज विस्तृत हो रहा है। यानी (जिसको मैंने कहा था सार्वभौमिकता और स्थानीयता का एक द्वंद्व या एक तनाव) आप जब ऊपर चढ़ते हैं तो आप तनाव का अनुभव करते हैं। आपके पूरे स्नायुतंत्र पर उसका असर पड़ता है और आप महसूस करते हैं कि ऑक्सीजन कम हो गई है। ऑक्सीजन कम हो रही है का मतलब कि स्थानीय सन्दर्भ अब आपके पास कम हो गए हैं। तब आप उन स्थानीय सन्दर्भों की कमी को पूरा कैसे करते हैं? तब आप दूसरी चीज़ें लाते हैं। यानी आप किताबें लाते हैं, पुस्तकालय लाते हैं, सन्दर्भ ग्रन्थ लाते हैं, जिस तरह आप ऑक्सीजन का एक सिलेण्डर अपने मुँह पर लगाते हैं। अब आप उस पर चढ़ते चले जाते हैं। बिना ऑक्सीजन के आप उस बिन्दु तक नहीं पहुँच सकते जहाँ ऑक्सीजन की बहुत कमी है।

इसका मतलब कि बिना सन्दर्भ ग्रन्थों के, बिना किताबों के, बिना सहायक सामग्री के आप शिक्षा के दूसरे स्तर या तीसरे स्तर तक नहीं पहुँच सकते। मैं उच्चतर, निम्नतर की बात नहीं कर रहा हूँ। लेकिन मुझे यह रूपक इसलिए पसन्द है क्योंकि इसमें आप इस यात्रा को देख सकते हैं और इसमें धीरे-धीरे सन्दर्भ जो पहले आपके पास आसानी से हासिल थे, मुहैया कराना भी नहीं कहेंगे, जो आपके पास थे, वे अब नहीं रह जाते हैं और आप उनकी कमी को

पूरा करते हैं। इसीलिए प्राथमिक स्तर पर आप इन स्थानीय सन्दर्भों और संसाधनों का कितना सृजनात्मक इस्तेमाल करते हैं, इसमें शिक्षक की सृजनात्मकता भी देखी जाएगी, उसकी रचनात्मकता भी देखी जाएगी। और उसी में यह तय होगा कि बच्चे कितना आश्वस्त हैं और कक्षा में कितना इत्मीनान महसूस कर रहे हैं।

अगर आप आरम्भिक कक्षा में एक बच्चे की उत्तर पुस्तिका को लाल रंगों से भर देते हैं या जब कोई बच्ची बोलने के लिए खड़ी होती है और मान लीजिए जैसे ही वह बोलती है, ''मास्टर साहब वह भाग गया।'' अगर उसकी जगह वह कहे कि ''मास्टर साहब वह पड़ा गया'' और आप कहें ग़लत है। अगर आप वैसा करने की जगह ब्लैक बोर्ड पर ''पड़ा गया'' लिखते हैं और उसकी जगह ''भाग गया'' लिखते हैं, तो यह एक औसत हिन्दुस्तानी कक्षा होगी। फर्ज़ कीजिए, दिल्ली की एक कक्षा है और इस कक्षा में भागलपुर से आया हुआ बच्चा बैठा हुआ है। वह इस शब्द का इस्तेमाल करता है। यह शब्द ज़ाहिर है कि पंजाबी बोलने वाले को नहीं मालूम है। उसे इस शब्द पर हँसी भी आ सकती है। लेकिन ऐसे शब्द से खुद उसके शब्द भण्डार में इज़ाफ़ा हो सकता है। यहाँ प्रश्न यह है कि अगर आप हिन्दी पढ़ा रहे हैं तो बच्चा उस हिन्दी को जिसे आप पढ़ा रहे हैं, उसके संसार में दाखिल हो पा रहा है कि नहीं? वह बच्चा, भागलपुर से आया हुआ ''अंगिका'' बोलने वाला बच्चा है या अवध क्षेत्र से आई हुई अवधी बोलने वाली बच्ची है या पंजाबी बोलने वाला कोई बच्चा है, ये सब बच्चे हिन्दी की संरचना में साथ-साथ प्रवेश कर रहें हैं। और जिनको हम 'हिन्दी भाषी' कहते हैं वे सब भी किसी न किसी अन्य भाषा के साथ ही कक्षा में आते है।

> मेरी यह समझ है, जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में भी व्यक्त की गई है कि आदर्श स्थिति यह है कि पाठ्यपुस्तकें स्थानीय स्तर पर तैयार हों। आदर्श स्थिति तो यह है कि हर स्कूल अपनी पाठ्यपुस्तकें तैयार करे। लेकिन आप जानते हैं कि यह कई कारणों से व्यावहारिक नहीं है। परन्तु ऐसा किया जा सकता है, चूँकि भारत इतना बड़ा देश है यहाँ आप कुछ क्षेत्र बना लें और उन क्षेत्रों के आधार पर आप पाठ्यपुस्तक तैयार करने का काम करें।

इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते कि हम में से प्रायः सभी द्विभाषी हैं। आप घर में या तो मैथिली बोलते हैं या भोजपुरी या कुछ और बोलते हैं। मान लीजिए आप इतने सभ्य हो चुके हैं कि घर में आप अपने माँ-बाप से भोजपुरी वग़ैरह में बात नहीं करते हैं। जब आप गाँव जाते हैं तो आप चाहें या न चाहें आप दो भाषाओं या बोलियों का प्रयोग करते हैं। इसका मतलब कि आप दो संसारों में एक साथ रहते हैं।

फ़ैयाज़ : पाठ्यपुस्तक तैयार करते समय भाषा सम्बन्धी किसी नीति की ज़रूरत है? और इस दिशा में सरकार द्वारा कोई निर्देश दिया जाना चाहिए या नहीं?

अपूर्वानंद : यह बहुत पेचीदा सवाल है, जैसा मैंने कहा कि यह जितना शिक्षा-शास्त्रीय प्रश्न है उतना ही राजनीतिक भी है, इसलिए यह पेचीदा है। आप भारत के बारे में जानते हैं। यहाँ शिक्षा समवर्ती सूची में है, इसलिए भारत में कोई केन्द्रीय दिशा निर्देश नहीं दिया जा सकता जिसे मानने के लिए राज्य बाध्य हो। जिस रूप में भारत का संघीय ढाँचा बना हुआ है, उसमें एक केन्द्रीय विभाग है जो शिक्षा देखता है, और एक संस्थान भी है जो प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा में शोध का काम करता है और शिक्षक प्रशिक्षण का भी काम करता है, वह है राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी)। एनसीईआरटी से हर पाँच साल में पाठ्यचर्या की एक रूपरेखा प्रस्तुत करने की उम्मीद की जाती है लेकिन आप यह भी जानते हैं कि वह बाध्य नहीं है। यह सिर्फ एक सुझाव है। आप कह सकते हैं कि वह एक शिक्षाशास्त्रीय ढाँचा है। प्रस्तावित किया जाता है कि इस ढाँचे में आप शिक्षा का

कारोबार चला सकते हैं। उसके आधार पर आप पाठ्यक्रम बनाते हैं और फिर पाठ्यक्रमों में आप जो लक्ष्य निर्धारित करते हैं, उनके आधार पर आप पाठ्यपुस्तक बनाते हैं।

एनसीईआरटी चार भाषाओं में संभवतः पाठ्यपुस्तकें बनाता है। उन पाठ्यपुस्तकों को राज्य सरकार अपने यहाँ लागू करेंगी या नहीं, यह पूरी तरह उन राज्यों का निर्णय है। उसी तरह राज्य सरकारों में राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एससीईआरटी) हैं। कई जगह माध्यमिक शिक्षा मण्डल है जैसे राजस्थान में, जो पाठ्यपुस्तकें तैयार करने का काम करते हैं। पाठ्यपुस्तकों के सन्दर्भ में मेरा जो सीमित अध्ययन है, वह यह है कि पाठ्यपुस्तक निर्माण को एक साथ एक राष्ट्रीय दायित्व और एक अत्यन्त ही गम्भीर काम माना जाता है, और साथ ही उसे शिक्षाशास्त्रीय नहीं माना जाता है। यानी उसमें पेशेवर दृष्टि नहीं रहती है और दूसरी तरफ वह इतना गम्भीर होता है कि उस पर सबकी निगाहें लगी होती हैं। जहाँ तक नीति का प्रश्न है वह शायद अनिवार्य नीति नहीं है। मुझे इसमें भी शक है कि पाठ्यपुस्तक को लेकर कभी किसी नीति के बारे में सोचा गया हो।

मैं हमेशा यही कहता हूँ कि एक बहुत बड़ी कमी जो भारत की स्कूली शिक्षा की है वह यही है कि आप पीछे की बात छोड़ देते हैं। पिछले साठ सालों में इतनी बार पाठ्यपुस्तकें बनीं और बदली गईं, लेकिन उनके पीछे जो बहस है, हम नहीं जानते कि वे बहसें क्या हैं। मसलन पाठ्यपुस्तक समितियाँ बनती हैं, उनके बनने का आधार क्या है? पाठ्यपुस्तक समितियों में कौन–सी बहसें होती हैं? क्या बहसें होती हैं? किन सिद्धान्तों की चर्चा की जाती है? वे शिक्षाशास्त्रीय सिद्धान्त क्या हैं? हमें उनके बारे में कोई सूचना नहीं है क्योंकि किसी भी तरह का दस्तावेजीकरण हमारे यहाँ नहीं है। इस बात को मैं कई बार कह चुका हूँ कि इसके चलते शोध का काम बहुत कठिन होता है और आप किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं। आप हमेशा कुछ ख़्याल ज़ाहिर कर सकते हैं।

मेरी यह समझ है, जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में भी व्यक्त की गई है कि आदर्श स्थिति यह है कि पाठ्यपुस्तकें स्थानीय स्तर पर तैयार हों। आदर्श स्थिति तो यह है कि हर स्कूल अपनी पाठ्यपुस्तकें तैयार करे। लेकिन आप जानते हैं कि यह कई कारणों से व्यावहारिक नहीं है। परन्तु ऐसा किया जा सकता है, चूँकि भारत इतना बड़ा देश है यहाँ आप कुछ क्षेत्र बना लें और उन क्षेत्रों के आधार पर आप पाठ्यपुस्तक तैयार करने का काम करें। उसमें निश्चितता भी आएगी क्योंकि दिल्ली में बैठकर भागलपुर के बच्चे की दुनिया को समझना आपके लिए बहुत मुश्किल है। या मणिपुर के बच्चे की दुनिया को समझना बहुत मुश्किल है। इसलिए बेहतर होगा कि उस परिवेश के निकट पाठ्यपुस्तक बनाने का काम करें। पाठ्यपुस्तक को जैसे ही आप एक केन्द्रीकृत सत्ता के द्वारा प्रदत्त किसी एक सामग्री के रूप में पेश करते हैं, वैसे ही बहुत सारे तनाव पैदा हो जाते हैं। इससे वह जितना शिक्षाशास्त्रीय मसला नहीं रहता उतना वह शक्ति से जुड़ा हुआ मसला बन जाता है। इसलिए हमारे यहाँ पाठ्यपुस्तकों को लेकर जो बहसें होती हैं, वह बहसें शिक्षाशास्त्रीय कम होती हैं, उनमें दूसरे सन्दर्भ ज़्यादा होते हैं। राजनीतिक सन्दर्भ ज़्यादा होते हैं।

पाठ्यपुस्तक को जैसे ही आप एक केन्द्रीकृत सत्ता के द्वारा प्रदत्त किसी एक सामग्री के रूप में पेश करते हैं, वैसे ही बहुत सारे तनाव पैदा हो जाते हैं। इससे वह जितना शिक्षाशास्त्रीय मसला नहीं रहता उतना वह शक्ति से जुड़ा हुआ मसला बन जाता है। इसलिए हमारे यहाँ पाठ्यपुस्तकों को लेकर जो बहसें होती हैं, वह बहसें शिक्षाशास्त्रीय कम होती हैं, उनमें दूसरे संदर्भ ज़्यादा होते हैं। राजनीतिक संदर्भ ज़्यादा होते हैं।

फ़ैयाज़ : तब यहाँ किसी नीति की क्या भूमिका रह जाती है। 1986 में जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति लागू हुई थी उसकी भूमिका क्या है?

अपूर्वानंद : देखिए उसमें एक मुख्य तत्व की बात कही गई थी। वह हर पाठ्यपुस्तक में होना चाहिए। जब कोई भी राष्ट्र-राज्य जब बनता है, तब वह राष्ट्र राज्य, (क्योंकि वह राष्ट्र राज्य मेरे सामने कैसे मूर्त है या आपके मामले में कैसे मूर्त हैं) उसके पास जहाँ-जहाँ भी मौका होता है, वहाँ वह तरह-तरह से अपने आपको मूर्त करता रहता है। किसी भी राष्ट्र-राज्य के लिए पाठ्यपुस्तक अपनी अभिव्यक्ति का एक बहुत उपयोगी ज़रिया है, इसलिए वह उसके ज़रिए अपनी एक तस्वीर पेश करना चाहता है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति को भी इसी नज़रिए से देखा जाना चाहिए कि उसमें जिन मुख्य तत्वों की बात की गई है वह हैं क्या? आप उन मुख्य तत्वों को देखिए तो आप समझ जाएँगे कि जब आप धर्मनिरपेक्षता की बात कर रहे हैं या किसी और चीज़ की बात कर रहे हैं तो यह रहना ही रहना चाहिए। इसका मतलब हम अपनी राष्ट्रीय कल्पना इन बिन्दुओं के आधार पर कर रहे हैं और हम चाहते हैं कि वह हर जगह शामिल रहें और उन सिद्धान्तों से हम विचलित न हों। तब ये आपके राष्ट्रीय उद्देश्य हैं जिन्हें शिक्षा के असल उद्देश्यों के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है और जब आप शिक्षा के उद्देश्यों की बात करते हैं तो उनको इन राष्ट्रीय उद्देश्यों से अलग रखना नामुमकिन है। आप उनको अलग कर नहीं सकते। इसलिए आप 1986 की शिक्षा नीति देख लें या उसके पहले की नीतियाँ देख लें, वे हमेशा राष्ट्र-राज्य की एक विशेष कल्पना को प्रस्तुत करती हैं। ये कुछ अनिवार्य सिद्धान्तों की, कुछ अनिवार्य बिन्दुओं की बात करती हैं, जो पाठ्यचर्या में और पाठ्यपुस्तकों में होने ही चाहिए। इसलिए आप यह ध्यान देंगे कि जब किताबें बनती हैं, मैं कई पाठ्यपुस्तकों की संरचना में शामिल रहा हूँ, तो देखता हूँ कि समितियाँ राष्ट्रभक्ति की कुछ कविताएँ उसमें देना ही चाहेंगी। फिर देखते हैं कि अच्छी-अच्छी तस्वीरें आनी चाहिए, उन तस्वीरों में मुसलमान चेहरे भी होने चाहिए, लड़कियाँ भी होनी चाहिए और अब चूँकि संवेदनशीलता बढ़ी है तो कहते हैं कि अलग-अलग शारीरिक क्षमताओं वाले लोगों के चित्र भी होने चाहिए। तो किताब बनाने वाले वहाँ उसको डालना चाहते हैं। यानी अगर पाठ्यपुस्तक दिखे तो उसमें एक तरह से आप जिनको शामिल कर रहें है, उन सबको राष्ट्र के अंग के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इसलिए अब चेहरे भी बनाते हैं। आप देख लीजिए कि पहले चेहरे के नाक नक्शे क्या होते थे ? आँखें कैसे होती थीं? उनका रंग क्या होता था? उनका पहनावा क्या होता था? अब क्या कोई फर्क आया है पिछले 20 साल की किताबों में? आपको फर्क बहुत साफ दिखलाई पड़ता है। अब आदिवासी बच्चों को भी शामिल किया जाता है, क्योंकि राष्ट्र-राज्य इसको लेकर बहुत बेचैन है कि उनको यह अहसास दिलाया जा सके कि वो यहाँ हैं। यह प्रक्रिया आपको बाकी जगहों पर भी दिखलाई देगी। जैसे अब आपको टेलीविज़न पर उत्तर पूर्व के चेहरे बहुत दिखलाई पड़ेंगे। जो आज से बीस साल पहले नहीं थे। उसी तरह आप जब विमानों में जाएँगे तो देखेंगे कि एयर होस्टैस या जो होस्ट हैं, उनमें उत्तर पूर्व के भी चेहरे दिखलाई पड़ेंगे। उसमें आदिवासी भी अब दिखलाई पड़ रहे हैं। तो यह प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। इसमें आप सबको शामिल करते हैं। जब आप सबको शामिल कर रहे हैं तो यह कैसे कह सकते हैं कि भाषा की दुनिया से आप इन सब की अभिव्यक्तियों को हटा दें, और कहें कि नहीं यह भाषा इन सबकी है।

आप देख लीजिए कि पहले चेहरे के नाक नक्शे क्या होते थे ? आँखें कैसे होती थीं ? उनका रंग क्या होता था ? उनका पहनावा क्या होता था ? अब क्या कोई फर्क आया है पिछले 20 साल की किताबों में ? आपको फर्क बहुत साफ दिखलाई पड़ता है। अब आदिवासी बच्चों को भी शामिल किया जाता है, क्योंकि राष्ट्र-राज्य इसको लेकर बहुत बेचैन है कि उनको यह अहसास दिलाया जा सके कि वो यहाँ हैं।

फ़ैयाज़ : अकादमिक भाषा और बोलचाल की भाषा को आप किस नज़रिए से देखते हैं?

अपूर्वानंद : यह तय है कि आप किसी भी ऐसी जगह प्रवेश करते हैं जो औपचारिक स्थान है, तो आपका व्यवहार करने का तरीका वह नहीं रह जाता है, जो अनौपचारिक जगह पर होता है। मसलन अपने घर में आप पालथी जमाकर बैठ सकते हैं या टाँग फैलाकर टेबल पर बैठ सकते हैं। लेकिन आप अपने दफ्तर में वैसे नहीं बैठते। यहाँ तक कि हम यह जानते हैं कि जब हम एक दूसरे के साथ बैठे होते हैं तो हम एक पाँव के ऊपर दूसरा पाँव डालकर नहीं बैठते यह भी ख़्याल रखते हैं कि हमारा जूता किस तरफ़ है। आप जब एक औपचारिक स्थान में प्रवेश करते हैं तो आपका सारा लहज़ा बदल जाता है। भाषा भी एक लहज़ा है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। लेकिन भाषा एक अन्दाज़ भी है। कब लहज़ा बदल जाता है, यह हमें पता भी नहीं चलता कि वह कैसे बदला। वह, जो इस चीज़ को लेकर संवेदनशील हैं उनमें अनायास आते हैं क्योंकि वह भाषा के अलग-अलग स्तरों से बहुत अच्छी तरह से परिचित हैं। इसलिए उन्हें बहुत कठिनाई नहीं होती। लेकिन जो परिचित ही नहीं हैं उनके लिए कठिनाई ज़रूर है।

इसलिए भाषा की शिक्षा का काम यह है कि भाषा के जो विविध रंग हैं उनको आप छात्रों के सामने कितना ज़्यादा खोलते हैं। अगर आप इसे अपना दायित्व मान लेते हैं तो आप एक बहुरंगी दुनिया उनके सामने खोलने में मेहनत करेंगे यानी आप भाषा के अनेक प्रकार के अनुभवों से उन्हें परिचित कराएँगे, जिनसे वे अपने आप परिचित नहीं हो पाए हैं। इसलिए हम जब किताब बनाते हैं तो उसमें हम तरह-तरह के नमूने रखते हैं। मसलन मैं हिन्दी का अध्यापक हूँ, हिन्दी का पाठक हूँ। मैं अगर एक किताब बनाऊँगा तो उसमें फणीश्वर नाथ रेणु की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें कृष्णा सोबती की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें प्रेमचंद की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें अज्ञेय की भाषा भी रखूँगा। जिससे भाषाओं के अलग-अलग अन्दाज़, अलग-अलग छटाएँ और अलग-अलग रंग से बच्चे परिचित हो सकें।

> हम जब किताब बनाते हैं तो उसमें हम तरह-तरह के नमूने रखते हैं। मसलन मैं हिन्दी का अध्यापक हूँ, हिन्दी का पाठक हूँ। मैं अगर एक किताब बनाऊँगा तो उसमें फणीश्वर नाथ रेणु की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें कृष्णा सोबती की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें प्रेमचंद की भाषा भी रखूंगा, मैं उसमें अज्ञेय की भाषा भी रखूँगा। जिससे भाषाओं के अलग-अलग अंदाज, अलग-अलग छटाएँ और अलग-अलग रंग से बच्चे परिचित हो सकें।

इस तरह आप यह कह सकते हैं कि पाठ्यपुस्तक एक तरह की खिड़की है या आप यह भी कह सकते हैं कि पाठ्यपुस्तक एक ऐसी चीज़ है जिसमें आप बहुत सारे संकेत छोड़ते हैं और आप यह अपेक्षा करते हैं कि बच्चों में इसको लेकर दिलचस्पी पैदा होगी। आपने जो सूत्र वहाँ छोड़े हैं, जिनका सिरा वहाँ पाया है, उसको पकड़कर वे आगे बढ़ जाएँगे। हो सकता है किसी ने पाठ्यपुस्तक में रेणु की रचना पढ़ी हो और उसकी वज़ह से अब वह रेणु का पूरा साहित्य ही पढ़ ले। मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय में पीएचडी की एक छात्रा को रेणु की भाषा से जूझते हुए देखा है। इसका मतलब यह है कि पीएचडी तक रेणु की भाषा से उसका सामना नहीं हुआ। जब अचानक वह रेणु पर पीएचडी करने लगती है तो उनका एक उपन्यास भी नहीं पढ़ पाती है। इसका अर्थ यह कि स्कूली शिक्षा में उसको रेणु से रूबरू नहीं कराया गया। यहाँ यह उस स्कूली शिक्षक की असफलता है।

फ़ैयाज़ : बोली जाने वाली भाषा की एक संरचना होती है और लिखित भाषा की एक अलग संरचना होती है। इन असमानताओं का समाधान कैसे किया जा सकता है?

अपूर्वानंद : देखिए मैं भाषा या शिक्षण का

विशेषज्ञ तो हूँ नहीं। इसलिए मैं इसके तकनीकी पहलू पर बात करने में असमर्थ हूँ। लेकिन अगर हम अपने अनुभवों को ताज़ा करने की कोशिश करें, उनको देखने की कोशिश करें तो, हम कैसे लिखते थे? लिखा कैसे जाता है? तो पाते हैं कि लिखना एक औपचारिक प्रक्रिया है। लेकिन जिसको आप लिखना कहते हैं वह है क्या?

भारत में यही दिक्कत है कि पढ़ना और लिखना, इन दो दक्षताओं पर स्कूली शिक्षा में बहुत कम ध्यान दिया जाता है। आप पढ़ते हैं तो पढ़ने का मतलब क्या होता है? और जब आप लिखने लगते हैं, तो लिखने का क्या मतलब होता है? अक्सर पढ़ने में यह माना गया है कि एक चीज़ है जो पहले से मौजूद है और हमारा काम है उसको सिर्फ़ दोहरा देना। जबकि जब आप लिखते हैं तो उसमें आप शामिल होते हैं। खुद आपके ख़यालात शामिल होते हैं। इसलिए आप लिखने में दूसरों के विचारों को तो शामिल करते ही हैं, साथ ही साथ आप बहस भी करते हैं। व्यवस्था देना, तर्क करना, ये सारे ऐसे कौशल हैं जो आप लिखने के दौरान सीखते हैं। इसलिए जब अलग-अलग प्रकार का लेखन होता है तो हमारी भाषा अलग-अलग तरह की होती है। इसीलिए जब हम भाषा शिक्षण कहते हैं तो उसमें पत्र लेखन आता है, आवेदन लिखना आता है। उस समय आप यह नहीं कहते कि म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी को आवेदन आप वैसे ही लिखेंगे जैसे दोस्त को ख़त लिखते हैं। आप ऐसा नहीं करते हैं। यही तो आपको सिखाना है। आपको उसे भाषा नहीं सिखाना है। भाषा के जो अलग-अलग रूप हैं, ये जो औपचारिक अवकाश है, जो औपचारिक जगह है, इन औपचारिक जगहों में अन्दाज़ कैसे बदल जाते हैं, यह सिखाना है।

> अक्सर पढ़ने में यह माना गया है कि एक चीज़ है जो पहले से मौजूद है और हमारा काम है उसको सिर्फ़ दोहरा देना। जबकि जब आप लिखते हैं तो उसमें आप शामिल होते हैं। खुद आपके ख़यालात शामिल होते हैं। इसलिए आप लिखने में दूसरों के विचारों को तो शामिल करते ही हैं, साथ ही साथ आप बहस भी करते हैं। व्यवस्था देना, तर्क करना, ये सारे ऐसे कौशल हैं जो आप लिखने के दौरान सीखते हैं।

फ़ैयाज़ : चूँकि आप पाठ्यपुस्तक के निर्माण से जुड़े रहे हैं तो सवाल यह है कि यह कैसे तय किया जा सकता है कि किसी पाठ्यपुस्तक की कौन-सी भाषा एक विशेष आयु के बच्चे के लिए उचित या उपयुक्त है?

अपूर्वानंद : सामान्यतः यह कहना बहुत कठिन है। अगर आपने आयु विशेष और परिवेश विशेष का अध्ययन किया है तो आप जानते होंगे कि कौन-सी भाषा उपयुक्त है। यह बहुत कुछ अनुभव से भी जाना गया है। मसलन आप किन शब्दों का प्रयोग करेंगे, जिससे पाठ को समझने में बच्चे को परेशानी न हो। लेकिन क्या आप सिर्फ़ उन्हीं शब्दों का प्रयोग करेंगे जो बच्चे के पास पहले से मौजूद हैं या आप बच्चे को एक चुनौती भी देंगे? बच्चे हमेशा चुनौती पसन्द करते हैं। खेलने में भी और बाकी चीज़ों में भी। अगर आप उनको आसान समस्याएँ दे रहे हैं तो वे ऊब जाते हैं। अगर आप सिर्फ़ एक चीज़ को दोहरा रहे हैं तो दोहराना भी एक प्रक्रिया है सीखने की। सीखने की प्रक्रिया का एक हिस्सा है। मगर आप हमेशा एक ही चीज़ बच्चों के साथ करते हैं तो वह बच्चा बहुत जल्दी थक जाता है और ऊब जाता है। बच्चे को एक चुनौती महसूस नहीं होती। यही बात भाषा शिक्षण के साथ है। आप उसे हमेशा चुनौती के नए स्तर पर ले जाने की कोशिश करते हैं। पाठ्यपुस्तक बनाने वाले को अब इस चीज़ का समाधान करना है कि वह चुनौती के स्तर का निर्धारण कैसे करे? जो शिक्षक पाठ्यपुस्तक और बच्चे के साथ काम कर रहा है, उसको तय करना है कि बच्चा इस पाठ्यपुस्तक की दुनिया के साथ रिश्ता कैसे बनाएगा, वह उस रिश्ते को आसान कैसे करेगा, पहली बात तो यह है कि वह पाठ्यपुस्तक प्रारम्भिक है भी या नहीं?

मैंने अपनी बच्ची के स्कूल में किताब देखी, निहायत ही घटिया किताब थी। लेकिन स्कूल के सारे शिक्षकों का मानना था कि वह एक बहुत अच्छी किताब है। यानी वह किताब एनसीईआरटी की किताब से भी बेहतर है। उसमें जो भाषा थी वह ज़ाहिर है बहुत ही संस्कृतनिष्ठ भाषा थी। शायद इसलिए उसको बेहतर माना जा रहा था। लेकिन उसके पाठ बहुत घटिया थे।

तो मैं बात कर रहा था कि आप चुनौती की कल्पना कैसे कर रहे हैं? यह भी एक प्रश्न है। इसका एक सम्बन्ध तो इसमें है कि भाषा की हमारी समझ क्या है? सारा कुछ इससे ही जाकर जुड़ जाता है। अगर हमारी भाषा की समझ यह है कि हिन्दी वह है जिसमें बाहरी शब्द नहीं आने चाहिए, बाहरी अभिव्यक्तियाँ नहीं आनी चाहिए, तो फिर इसके लिए बाहर कहाँ से आया? बाहर और भीतर यह कहाँ से आए?

> मैंने अपनी बच्ची के स्कूल में किताब देखी, निहायत ही घटिया किताब थी। लेकिन स्कूल के सारे शिक्षकों का मानना था कि वह एक बहुत अच्छी किताब है। यानी वह किताब एनसीईआरटी की किताब से भी बेहतर है। उसमें जो भाषा थी वह ज़ाहिर है बहुत ही संस्कृतनिष्ठ भाषा थी। शायद इसलिए उसको बेहतर माना जा रहा था। लेकिन उसके पाठ बहुत घटिया थे।

पिछली बार जब राष्ट्रीय पाठ्यक्रम बनने लगा और व्याकरण की बात होने लगी तो नामवर सिंह ने प्रस्तावित किया कि अब तक व्याकरण में हम लोग जो विभाजन करते रहे हैं, वो शब्दों का विभाजन कैसे आया है? तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज। यह एक बाकायदा श्रेणी है। इसमें आप कुछ शब्दों को हमेशा के लिए बाहर का कहते हैं। कुछ शब्दों को आप देशज कहते हैं। जन्म के आधार पर आप शब्दों की श्रेणी निर्धारित कर रहे हैं। इस तरह भाषा में भी एक तरह का जाति-विभाजन कर देते हैं। तत्सम् तो है वह जो ब्राह्मण है। यह जो जाति विभाजन है, इसको नामवर सिंह ने कहा कि व्याकरण से हटा देना चाहिए और अभी जो पाठ्यक्रम है, एनसीईआरटी के द्वारा प्रस्तावित, उसमें यह वर्गीकरण नहीं है। तत्सम्, तद्भव, देशज, विदेशज। कमीज़ हिन्दी का शब्द है या नहीं? मेज़ हिन्दी का शब्द है या नहीं? टेबल हिन्दी का शब्द है या नहीं? तो क्या सारा झगड़ा शब्दों पर है? ''मैं टेबल पर रखे एक सादे कागज़ को उठाता हूँ और क़लम से उस पर लिखना शुरू करता हूँ।'' इसमें कौन-सा शब्द है जो शुद्ध हिन्दी का है?

फ़ैयाज़ : मेरे ख़्याल से तो कोई नहीं?

अपूर्वानंद : तो यह हिन्दी का वाक्य है कि नहीं है?

फ़ैयाज़ : सवाल तो यही है।

अपूर्वानंद : ''तुमने हरे रंग की कमीज़ पहन रखी है।'' कमीज़ कहाँ से आई? ''तुम बस से उतरकर रिक्शे पर बैठकर चले आ रहे हो।'' न तो रिक्शा शुद्ध हिन्दी है, न बस है। तो आप क्या करेंगे? हिन्दी का वाक्य इसको कैसे बनाएँगे?

फ़ैयाज़ : मैं इस सन्दर्भ में फिर से एनसीएफ-05 को उद्धृत करना चाहूँगा। उसमें एक वाक्य लिखा है– ''चिड़ियों की चोंच का आकार अनुकूलन में किस प्रकार से सहायता देता है?'' एनसीएफ के अनुसार यह होना चाहिए; ''अपने पड़ोस में दिखने वाली साधारण चिड़ियों की चोंच का चित्र बनाओ। उसकी चोंच के आधार पर वर्णित करो कि उसकी भोजन की आदतें क्या होंगी? और तुम्हारे पड़ोस में उसे वैसा भोजन कहाँ से मिल पाएगा?'' इससे नहीं लगता कि भाषा वैसी हो जो आसानी से समझ में आए? हाँ ये भी ज़रूरी है कि एक समय के बाद बच्चों को नए-नए शब्दों से परिचित कराना चाहिए। लेकिन जो उन्हें समझ ही में नहीं आए वैसी भाषा का प्रयोग कहाँ तक उचित है?

अपूर्वानंद : दो सवाल हैं, आप चाहते क्या हैं? आप ''अनुकूलन'' की प्रक्रिया को समझाना चाहते हैं? अगर आपकी दिलचस्पी इसमें है तब तो आप वह करेंगे जो यहाँ सुझाया गया है कि

आप चिड़िया की चोंच को देखिए उसके आकार को देखिए और यह देखिए कि उसकी चोंच के चलते उसके खाने-पीने के तरीके प्रभावित कैसे होते हैं और इसी को अनुकूलन कहते हैं। यह जो चोंच है यह अनुकूलित कर रही है, यहाँ इस शब्द में पूरी अवधारणा है। शब्द का मतलब खाली शब्द नहीं है, जिसको उसे पढ़ना है। शब्द का मतलब है पूरी अवधारणा और अवधारणा काफी जटिल है।

''बैठना'' ही अपने आप में एक जटिल अवधारणा है। अगर ''बैठना'' को आप खोलना शुरू करें कि बैठना है क्या? या खड़ा होना क्या है? तो यह ख़ासी पेचीदा प्रक्रिया है। खड़ा होना या चलना या बैठना जिन पर आप घंटों बात कर सकते हैं। आप बैठते कैसे हैं? किसको आप बैठना कहेंगे? इसी तरह अनुकूलन में एक पूरी अवधारणा छिपी है। उस अवधारणा को खोल कर ही आप ''अनुकूलन'' शब्द को बच्चे का शब्द बना सकते हैं। वरना अगर आप यह ज़िद करेंगे कि तुम उस वाक्य को पढ़ो। तो बच्चा रट लेगा क्योंकि उसको पता है कि शिक्षक बहुत जिद्दी हैं। शिक्षक इसके बिना मानेंगे नहीं तो वह शिक्षक को बेवकूफ बनाना जानता है। मेरी बेटी भी बोलती है कि रट्टा मारना है, रट्टा मार लिया। जिस तरह वह बोलती है कि रट्टा मारना है, उसी से मालूम होता है कि वह बहुत मारती है। वह उसको एक अर्थपूर्ण गतिविधि नहीं मानती। लेकिन जो एनसीएफ प्रस्तावित कर रहा है, उसका अर्थ यह है कि आपको एक इत्मीनान की जगह बनानी है। उसमें थोड़ी मेहनत लगती है। 'अनुकूलन' लिखने में उतनी मेहनत नहीं लगती है जितना यह सोचने में कि अनुकूलन अवधारणा को हम कैसे समझाएँ? कैसे स्पष्ट करें? एक शब्द पूरी अवधारणा है, पूरी कल्पना है। जब तक आप उस कल्पना की दुनिया में उस बच्चे को नहीं ले जाते हैं वह शब्द उसके लिए अज़नबी है। आप कितना ही रटा दें, वह भूल जाएगा। दस दिन बाद उस शब्द को वह भूल जाएगा।

> जब हम हिन्दी की किताब बनाते हैं तो हम ज़रूरी मानते हैं कि उसमें कुछ लेखक हों ही, जैसे सूरदास, तुलसीदास, रहीम खानखाना। परेशानी क्या है ? परेशानी यह है कि अब यह भाषाएँ हमसे काफी दूर हो चुकी हैं। इनके ज़्यादातर पढ़ने वाले बच्चे-बच्चियां इनसे काफी दूर हैं। इससे जुड़ी हुई दूसरी परेशानी यह है कि अब ऐसे शिक्षक भी धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं जो इन भाषाओं को अच्छी तरह से जानते हों।

फ़ैयाज़ : हमें कई चीज़ें बहुत परेशान करती हैं, जब हम अलग-अलग राज्यों के पाठ्यक्रम देखते हैं, मसलन, कक्षा 4 की किताब लेते हैं जो भाषा उत्तराखण्ड की पाठ्यपुस्तक में है, वो राजस्थान से अलग है। बिहार की पाठ्यपुस्तक से अलग है। उत्तर प्रदेश की पाठ्यपुस्तक से अलग है। सबके अलग-अलग स्तर हैं। प्रस्तावना में लिखा जाता है कि भाषा का इस्तेमाल क्रमानुक्रम पैटर्न (Incremental pattern) में आगे बढ़ता है। लेकिन जब खोल कर देखते हैं तो बहुत अज़ीब सी चीज़ें दिखाई देती हैं। अगर हम भारतवर्ष की बात करें तो बिहार में कक्षा 4 के बच्चे की जो आयु है, वही लगभग 2 से 4 महीने आगे पीछे राजस्थान में है। बिहार के मुकाबले राजस्थान की कक्षा चार की भाषा ज़्यादा क्लिष्ट है। एक दूसरा उदाहरण है, उत्तराखण्ड की किताब से, उसमें 29 वाँ पाठ एक साधारण, बहुत ही आम-सी कविता है। लेकिन 9 वाँ पाठ में कबीर के दोहे हैं। मैं यहाँ यह नहीं कहता कि कबीर के दोहे इस्तेमाल करना ग़लत है। लेकिन क्या वो क्रमानुक्रम पैटर्न के अनुसार है? क्या इस तरह की कोई नीति है या पाठ्यपुस्तक बनाते समय इस तरह की बातों को ध्यान में नहीं रखना चाहिए?

अपूर्वानंद : उसमें दुविधाएँ कई प्रकार की हैं। इस पर बहस अभी तक खत्म नहीं हुई है। खुद मैं इस समय बहुत ज़्यादा कहने की स्थिति में नहीं हूँ, क्योंकि इनके पीछे कौन-से सिद्धान्त काम कर रहे हैं, इसका मेरे पास कोई अध्ययन

नहीं है। जब हम हिन्दी की किताब बनाते हैं तो हम ज़रूरी मानते हैं कि उसमें कुछ लेखक हों ही, जैसे सूरदास, तुलसीदास, रहीम खानखाना। परेशानी क्या है? परेशानी यह है कि अब यह भाषाएँ हमसे काफी दूर हो चुकी हैं। इनके ज़्यादातर पढ़ने वाले बच्चे-बच्चियाँ इनसे काफी दूर हैं। इससे जुड़ी हुई दूसरी परेशानी यह है कि अब ऐसे शिक्षक भी धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं जो इन भाषाओं को अच्छी तरह से जानते हों। मैं जब छोटा था तब रामचरितमानस और पूरे तुलसी जिनको कण्ठस्थ थे, ऐसे शिक्षक बहुत थे। अब ऐसे इक्का-दुक्का हैं। लेकिन हिन्दी की जो आत्मछवि है, उसके लिए यह अनिवार्य है। जैसा मैंने कहा कि एक राष्ट्र अपनी जो छवि बनाता है, उसमें धर्मनिरपेक्षता एक अनिवार्य तत्त्व है। उसी तरह हिन्दी की एक आत्मछवि है, उसकी कल्पना आप तुलसी या मीरा या कबीर के बिना नहीं करते हैं।

यह माना जाता है कि अगर एक बच्ची हिन्दी पढ़ के निकल रही है, क्योंकि बाहर निकलने के अलग-अलग स्तर हैं, मसलन एक स्तर माना जाता है कि पाँचवीं कक्षा में कुछ बच्चे निकल जाते हैं। कुछ आठवीं कक्षा तक निकल जाते हैं। कुछ दसवीं कक्षा में निकल जाते हैं। पाठ्यपुस्तक बनाने वाले की यह चिन्ता रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि जो बच्ची पाँचवीं कक्षा तक या छठी कक्षा तक हिन्दी पढ़ के निकले, उसके सामने हिन्दी की पूरी शक्ल ही न हो। इसलिए वे कबीर, तुलसी सबको उसमें देने की कोशिश करते हैं, ताकि, हिन्दी की पूरी एक दुनिया, हिन्दी की पूरी एक शक्ल उसके सामने हो और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ वह आ जाए।

पाठ्यपुस्तक बनाने वाले की यह चिन्ता रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि जो बच्ची पाँचवीं कक्षा तक या छठी कक्षा तक हिन्दी पढ़ के निकले, उसके सामने हिन्दी की पूरी शक्ल ही न हो। इसलिए वे कबीर, तुलसी सबको उसमें देने की कोशिश करते हैं, ताकि, हिन्दी की पूरी एक दुनिया, हिन्दी की पूरी एक शक्ल उसके सामने हो और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ वह आ जाए।

अब यह भी बहुत दिलचस्प है और कहें कि यह एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर अध्ययन नहीं हुआ है जबकि इस पर अध्ययन होना चाहिए कि पाठ्यपुस्तक की संरचना कैसी हो? पहले आप कौन–से पाठ दे रहे हैं। बीच में आप कौन-से पाठ रखते हैं। अन्त में आप कौन-से पाठ रखते हैं। अगर पाठ्यपुस्तक की कल्पना एक भवन के रूप में की जाए या एक स्थापत्य के रूप में की जाए तो उसकी बनावट (architecture) क्या है? हम कब ये तय करते हैं कि कौन-से 1,2,3 पाठ होने चाहिए? 4, 5, 6, 7 आदि पाठ कौन होंगे? किताब खत्म कहाँ होगी? किस बिन्दु पर खत्म होगी? आप नाटक करते हैं, आप जानते हैं कि शुरुआत और अन्त दोनों का अपना-अपना महत्त्व होता है। रंगकर्मी बी.वी. कारन्त तो हमेशा कहते थे कि किसी नाटक की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह ख़त्म कहाँ होगा। निर्देशक को यह मालूम होना चाहिए कि नाटक ख़त्म कहाँ होगा? ख़त्म होने का मतलब पूरा हो जाना नहीं है। दर्शक को एक ऐसी स्थिति में लाकर छोड़ना कि उसे कलात्मक पूर्णता का एहसास करा दे। क्या यह दृष्टि पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में है? अक्सर नहीं रही है इसलिए पाठ्यपुस्तकें एक वैचारिक गड्डमड्ड पन की शिकार रहती है, जिसमें आपको जो आपकी दृष्टि में बहुत ही आसान है एकदम अन्त में दिखलाई पड़ेगा और एकदम शुरु में आपको दिखलाई पड़ेगा एक ऐसा पाठ जो मुश्किल है या उसकी दुनिया से बहुत दूर है। ऐसी हालत में स्कूल अलग-अलग तरीके अपनाते हैं। कुछ पाठों को वे बाद में पढ़ाते हैं और कुछ पाठों को वह पहले पढ़ाते हैं। आप अगर पाठ योजना देखें तो आप देखेंगे कि ज़रूरी नहीं कि वह उसी क्रम में पढ़ाया जाए जिस क्रम में वो पाठ्यपुस्तक में है। पहले तिमाही में कुछ और, दूसरी तिमाही में कुछ और, तीसरी तिमाही में कुछ और। पूरे साल यह आगे-पीछे चलता रहता है। ऐसा हिन्दी में ही

नहीं, अंग्रेजी में भी मैंने देखा है। यह कई चीज़ों पर निर्भर है, इसमें शिक्षक का भी निर्णय होता है। क्योंकि हमारे यहाँ पाठ्यपुस्तक बनाने को लेकर बहुत ज़्यादा पेशेवर रवैया नहीं अख़्तियार किया गया है और उसमें बहुत ध्यान नहीं दिया गया है इसलिए उसके स्थापत्य पर भी ध्यान नहीं दिया जाता है। इसलिए आपको हैरानी होती है। जब आप हिन्दी की किताब बना रहे हैं तो क्या आपके सामने अन्य राज्यों की किताबें रहती है? मुझे शक है इस पर।

फ़ैयाज़ : नहीं रहती हैं।

अपूर्वानंद : तो एक तुलनात्मक दृष्टि नहीं आ पाती है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि अन्य राज्यों की पुस्तकों से प्रभावित होकर वही डाला जाए इन सब पाठ्यपुस्तकों में भी। हर चीज़ एक शून्य में हो रही है। उसके बाद भी कहा जाता है कि नहीं साहब हम राष्ट्रीय परियोजना में शामिल नहीं होंगे। जब तक पाठ्यपुस्तक निर्माण की प्रक्रिया को ही ज़्यादा गम्भीरता से न लिया जाए तब तक आप इसका समाधान कैसे करेंगे।

> हमारे एक दोस्त खुर्शीद अनवर कहते हैं कि ''भई 'आवश्यकता' भी एक शब्द है और 'ज़रूरत' भी एक शब्द है। हमेशा हम 'ज़रूरत' नहीं बोलेंगे। जहाँ 'आवश्यकता' की ज़रूरत होगी वहाँ 'आवश्यकता' बोलेंगे और जहाँ 'ज़रूरत' की आवश्यकता होगी वहाँ हम 'ज़रूरत' बोलेंगे।'' यह आज़ादी मुझे रखनी चाहिए। मुझे जकड़ न दिया जाए या मुझे सीमित न कर दिया जाए कि मैं ज़रूरत ही बोलूँगा, आवश्यकता कभी नहीं बोलूँगा।

फैयाज : थोड़ा-सा अलग, लेकिन आजकल यह शब्द बहुत प्रचलित है– हिन्दुस्तानी। आजकल कुछ ज़्यादा ही इस्तेमाल करने लगे हैं। गाँधीजी ने नाम दिया हिन्दुस्तानी। नाटक की बात करें तो अगर उर्दू के ज़्यादा शब्द होते हैं तो उर्दू न लिख करके, हिन्दुस्तानी कर दिया जाता है तो क्या हिन्दुस्तानी भाषा कहना उचित है?

अपूर्वानंद : जैसा कि मैंने कहा कि यह सारा कुछ इस पर तय होगा कि समाज किसमें ज़्यादा इत्मीनान महसूस करता है। मुझे कोई एतराज़ नहीं है अगर हिन्दुस्तानी कहने से उसकी स्वीकार्यता बढ़ जाती है और वह ज़्यादा इत्मीनान महसूस करने लगते हैं। मसलन मैंने यह देखा है कि बैठकों में अक्सर यह कहा जाता है कि आप हिन्दुस्तानी में बात करें इसके पीछे शायद कहने का उद्देश्य यह है कि आप संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में न बात करें।

हमारे एक दोस्त खुर्शीद अनवर कहते हैं कि ''भई 'आवश्यकता' भी एक शब्द है और 'ज़रूरत' भी एक शब्द है। हमेशा हम 'ज़रूरत' नहीं बोलेंगे। जहाँ 'आवश्यकता' की ज़रूरत होगी वहाँ 'आवश्यकता' बोलेंगे और जहाँ 'ज़रूरत' की आवश्यकता होगी वहाँ हम 'ज़रूरत' बोलेंगे।'' यह आज़ादी मुझे रखनी चाहिए। मुझे जकड़ न दिया जाए या मुझे सीमित न कर दिया जाए कि मैं ज़रूरत ही बोलूँगा, आवश्यकता कभी नहीं बोलूँगा।

इसका मतलब यह है कि हम भाषा में विविधता नहीं रहने देना चाहते हैं। आपने ठीक कहा कि अगर उर्दू के शब्द आप ज़्यादा डाल दें तो हिन्दुस्तानी मान लिया जाता है। उर्दू के शब्द का मतलब कुछ अरबी या फारसी शब्द, जिनको आप कहते हैं कि उर्दू के शब्द हैं। लेकिन आप उनको हिन्दी शब्द क्यों नहीं कहते हैं? मसलन 'दरख़्त' अभी तक हिन्दी शब्द क्यों नहीं हुआ? अगर 'कुर्सी' हिन्दी शब्द है तो 'कुर्सी' कहाँ से आई? अगर 'कुर्सी' कहते हुए आपको हिचकिचाहट नहीं होती है तो 'दरख़्त' कहते हुए हिचकिचाहट क्यों है? मैं तो जानता हूँ कि हिन्दी कोश में 'दरख़्त' को जगह है लेकिन हिन्दी कोश इतने संकुचित क्यों है कि वो हर साल अपने शब्द भंडार में चार सौ पाँच सौ शब्द जोड़ नहीं पाते हैं। इसलिए हिन्दी शब्दकोश एक स्थिर चीज़ है, जो बन गया एक बार उसमें फेर बदल मुमकिन नहीं। जबकि ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी हर दो साल में

नवीकृत होती रहती है। ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी का नवीकरण एक तरह की घटना होती है, क्योंकि उसमें बताया जाता है कि साहब अब 'पराठा' भी शामिल हो गया है। इसका मतलब यह है कि हिन्दी अब तक बहुत आश्वस्त भाषा नहीं है और हिन्दी को एक भय जैसा लगा रहता है कि कहीं उसको कुछ नुकसान न हो जाए। लेकिन दूसरी तरफ़ जो हिन्दुस्तानी भाषा के आग्रही हैं, वे भी भाषा के प्रति ज़्यादा संवेदनशील नहीं हैं क्योंकि भाषा पर वह एक दूसरी परियोजना सोच रहे हैं। इसलिए वे भाषा का अपना जो प्रवाह है, उसको एक तरह से बाधित कर देते हैं।

यह अक्सर हम देखते हैं कि हिन्दी की किताबें जब लिखवाई जाती हैं या हिन्दी में अनुवाद कराए जाते हैं, तब अनुवाद करवाने वाले यह निर्देश देते हैं कि आप फलाँ शब्दों का इस्तेमाल नहीं करेंगे। संस्कृत मूल के जो शब्द हैं क्या उनको जानना अब बिल्कुल ही ज़रूरी नहीं है?

मैं जानता हूँ कि जिस प्रकार की प्राथमिक शिक्षा हिन्दी की रही है या माध्यमिक शिक्षा रही है वो प्रायः एक ऐसी भाषा संस्कार, मैं यहाँ संस्कार शब्द का इस्तेमाल नहीं करना चाहूँगा, एक ऐसी भाषा संवेदना का निर्माण करती है कि उसमें कुछ शब्दों को मान लिया जाता है कि वे परदेशी, विदेशी हैं। लेकिन ऐसी भाषा संवेदना का भी इस्तेमाल नहीं करना चाहिए कि संवेदना शब्द आते ही लोग यह पूछने लगें कि कहाँ से यह शब्द आ गया और आप इतना कठिन शब्द इस्तेमाल क्यों कर रहे हैं?

फ़ैयाज़ : आपने अभी एक शब्द इस्तेमाल किया 'संस्कार', लोग कहते है कि भाषा संस्कार की ही देन है।

अपूर्वानंद : ठीक है। मैंने कहा कि जैसे मैं संस्कार शब्द का इस्तेमाल नहीं करूँगा क्योंकि संस्कार शब्द बहुत सारे सांस्कृतिक शब्दों से जुड़ा हुआ है। इसलिए मुझे संस्कार देना, इस नाम पर भी आपत्ति है। आप कहते हैं कि आप संस्कारित हैं। संस्कार हिन्दुओं की परम्परा में स्वयं बहुत सारे सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। उसमें फिर जाति का सन्दर्भ आ जाता है, जिनको आप संस्कारित नहीं मानते। आप कहते हैं कि भाषा कुछ संस्कारों से आती है। लेकिन वह संस्कार तो आखिर राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सन्दर्भों से जुड़े हुए हैं, इनसे कौन इंकार कर सकता है। अगर आप किसी एक समुदाय को लम्बे समय तक न संस्कृत सुनने देंगे, न संस्कृत बोलने देंगे तो आप कैसे यह उम्मीद करते हैं कि वह 'अपेक्षा' शब्द बोलेगा। फिर आप कहेंगे कि उसे भाषा का संस्कार नहीं है। वह संस्कार जो आपने अपने लिए सुरक्षित करके रखा हुआ है, आप किसी और को उसकी हवा नहीं लगने देते हैं।

> आप दलितों से कैसे अपेक्षा करते हैं कि वह संस्कृत का संस्कार हासिल करे। उनके पास संस्कृत नहीं है तो वह संस्कारित नहीं है या संस्कृत नहीं है, तो वह शिक्षित नहीं है । उनके पास एक भाषा है भोजपुरी या तेलुगू या तमिल। अगर ब्राह्मण टोले की भाषा अलग है और मुसहर टोले की भाषा अलग है तो इस पर भी विचार करना होगा। न कि क्यों यह भाषा अलग है ?

अगर वह वंचित है, जैसाकि कांचा एलैया कुछ दिन पहले दिल्ली विश्वविद्यालय में अपने एक भाषण में कह रहे थे, हमारे यहाँ संस्कार होते रहते थे और उसमें पण्डित संस्कृत में श्लोक पढ़ता था तो हमें पता भी नहीं चलता था कि वह देवता से क्या कह रहा है? क्या वह यह कह रहा है कि इसको मारो या वह यह कह रहा है कि इसको जिलाओ। वह एक बिल्कुल अपरिचित भाषा थी, जिस तक पहुँचने का कोई माध्यम नहीं था, रास्ता नहीं था दलितों के लिए। तो आप दलितों से कैसे अपेक्षा करते हैं कि वह संस्कृत का संस्कार हासिल करें। उनके पास संस्कृत नहीं है तो वह संस्कारित नहीं है या संस्कृत नहीं है, तो वह शिक्षित नहीं हैं। उनके पास एक भाषा है भोजपुरी या तेलुगू या तमिल। अगर ब्राह्मण टोले

की भाषा अलग है और मुसहर टोले की भाषा अलग है तो इस पर भी विचार करना होगा। न कि क्यों यह भाषा अलग है? इसका मतलब यह है कि इसका रिश्ता सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संदर्भों में है और यह राजनीतिक प्रश्न है तथा यह शक्ति का प्रश्न है। समाज में शक्ति का बँटवारा जिस तरह से है भाषा का उससे सीधा रिश्ता है। भाषा उससे अलग नहीं है। उससे निरपेक्ष नहीं है।

फ़ैयाज़ : आपने अपनी बात में इसका जिक्र तो किया ही है, लेकिन मैं थोड़ा और विस्तार से जानना चाहूँगा कि कुछ लोग मानते हैं कि यह भाषा का मानक रूप है, मॉडल है। तो ऐसी सूरत में उन्हें कैसे समझाया जाए कि अगर एक विशेष मॉडल को मानक मान लेते हैं तो जो बाकी लेखक हैं उनको कहाँ रखेंगे। मुंशी प्रेमचंद की कहानी ही अगर ले लें तो अलग हैं। ईदगाह की जो भाषा है और गोदान की जो भाषा है वह अलग है। वहीं पर जायसी की भाषा हो या फिर कबीर की या तुलसीदास की, इन सबकी भाषा अलग है। कृष्णा सोबती की भाषा अलग है, अज्ञेय की भाषा अलग है। सबकी भाषा अलग है तो किसी एक को तो मॉडल नहीं माना जा सकता है?

अपूर्वानंद : बिल्कुल नहीं माना जा सकता है। मैंने कहा कि कोई भी मॉडल नहीं, कोई भी आदर्श नहीं। इसलिए मॉडल की खोज करना ही व्यर्थ है। किसी आदर्श की खोज करना व्यर्थ है।

फ़ैयाज़ : तब तो यह कहा जाए कि जो कोई मॉडल या मानक मानते हैं, तो यह उनकी प्यूरिटन प्रवृत्ति को दर्शाता है?

अपूर्वानंद : हाँ, आप यह कह सकते हैं कि यह उनका परिशुद्धतावादी नज़रिया है और जिसमें वे एक मॉडल निर्धारित कर देते हैं और हर किसी को कहते हैं कि इसका पालन करो।

अपूर्वानंद समसामयिक विषयों पर अपने लेखन एवं वक्तव्य के लिए जाने जाते हैं। वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं।

फ़ैयाज़ साहित्य के अध्येता है। वर्तमान में गैर सरकारी संस्था 'प्रथम एजुकेशन फॉउण्डेशन' से जुड़कर कार्य कर रहे है।